Sanskritik aur Samajik Anusandhan
www.shodhjournal.com
ISSN: 2582-5852
Received: 26-11-2022, Accepted: 12-12-2022, Published: 28-12-2022
Volume 3, Issue 2, 2022, Page No. 23-26

पंथ–निर्माण

डॉ. सन्तोष कुमार पाण्डेय
सहायक आचार्य, वीरभूमि राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महोबा, उत्तर प्रदेश, भारत

सारश
पंथ साहित्य, समाज और इतिहास से जुड़ा एक ज्वलंत विषय है लेकिन कवियों पर जितना चिंतन और शोध हुआ है, उतना पंथ पर नहीं। पंथ–निर्माण का प्रश्न हिंदी साहित्य से जुड़ा है। वैसे समाजशास्त्र का भी यह एक रोचक विषय हो सकता है। लेकिन आश्चर्यजनक है कि आज उस वर्ग के विद्वान जिनको भक्ति साहित्य में कुछ खास नहीं लगता और ऐसे विद्वान भी जो हर आधुनिक भाव बोध को भक्तिकाल में ही सिद्ध करने को उतारू रहते हैं, 'पंथ' के प्रश्न से मुंह मोड़ते हैं। वैसे नये–नये पंथों का चलन तो आज भी कभी–कभार सुनने को मिलता है पर प्राचीन काल और खासकर मध्यकाल में ये अनगिनत बने जो किसी न किसी रूप में आज भी चले आ रहे हैं। सहज जिज्ञासा उठ सकती है कि पंथ–निर्माण क्यों होते थे? यदि होते थे, तो विकृत क्यों हो जाते हैं? पंथ क्या स्वयं में बंधन नहीं होता? पंथ की यदि अपनी कुछ प्रतिबद्धताएँ होती हैं, तो कैसे और किसके पक्ष में या किसके विपक्ष में? कबीर को पंथ से जोड़कर देखने की जरूरत क्यों पड़ी? और आज उनको पंथ से अलग करके देखने की जरूरत क्यों महसूस हो रही है? पंथ के प्रतिष्ठापक, अपने पूर्ववर्ती पंथों की दुर्गति से सीख क्यों नहीं लेते? और अंत में, पंथ क्या सचमुच सिर्फ सत्तालोलुपता का पर्याय था या किसी गहरी ऐतिहासिक सांस्कृतिक जरूरत से विकसित होता था?
प्रस्तुत विषय तो अनेक पंथों या सम्प्रदायों के विवेचन की मांग करता है, पर सीमित अध्ययन के चलते, मैं कबीर पंथ को ही केन्द्र में रखकर चलूंगा। पंथ निर्मित तो होता है चन्द महीनों या वर्षों में लेकिन उसका क्षरण, अनवरत, शताब्दियों तक चलता रहता है। जाहिर है पंथ निर्माण में जितने तथ्य व जानकारी होती है उसके अधिक तथ्य व जानकारी उसके पतन में होती है। सम्प्रदाय सगुणों या सवर्णों द्वारा बनाए जाते थे, पंथ निर्गुणों या तथाकथित नीच जातियों द्वारा। वैसे यह कोई मान्य व वैज्ञानिक अलगाव नहीं है पर अक्सर देखने को यही मिला है। पंथ या सम्प्रदाय निर्माण हिन्दू धर्म की ही विशेषता या बुराई नहीं बल्कि यह सारे विश्व का मामला है। मुस्लिम या इस्लाम धर्म को ही ले लीजिए उसमें भी अनेक सम्प्रदाय हैं जैसे– चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरवर्दिया सम्प्रदाय, कादिरी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी सम्प्रदाय, शत्तारी सम्प्रदाय, कलन्दर सम्प्रदाय, लाल साहबाजिया सम्प्रदाय, मदारी सम्प्रदाय आदि, वैसे इनमें से अधिकांश शाखाएँ सूफी सम्प्रदाय की हैं। बौद्ध, जैन और भी न जाने कितने मूल परिवर्तनकामी शक्तियाँ ऐसे ही पंथों में विभाजित होकर अपनी धार को कुंठित कर बैठीं। ये प्रश्न विचारणीय है।

मुख्य शब्द: कबीर, कबीरपंथ, सम्प्रदाय, संयासी, हठयोग, निर्गुण, सगुण

एक सवाल हिंदी के विद्वानों के लिए हो सकता है, कि साहित्य का इतिहास पंथ से कतराना क्यों चाहता है? पहले कुछ विद्वानों ने इस पर विचार किया है, जैसे– अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने। आज पाश्चात्य देशों की नकल 'स्टेट्स सिंबल' है और उत्तर आधुनिकता पर पकड़ विद्वता का प्रमाण, फिर अतीत और परम्परा में झाँकने का अवकाश किसे? और जरूरत क्या?
पंथ की शुरूआत जितनी क्रांतिकारी व काम्य होती है, अंत उतना ही विकृत व दुःखद। कोई भी पंथ हवा में नहीं पनपता वरन इसका कुछ निश्चित उद्देश्य होता है। पंथ निर्माण में कोई पक्षपात नहीं, निर्गुण ने बनाए तो सगुणों ने भी कम नहीं। वैसे इतिहास इस बात की गवाही देता है कि पहले सगुणों (उच्च जातियों) ने ही यह परंपरा डाली। इसका कारण शुरू से हमारा सामाजिक ढांचा रहा है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय, उपनिषद वगैरह इसके प्रमाण हैं।
पंथ बनते क्यों थे? अगर हम इस प्रश्न पर विचार करें, हालांकि इस पर कई कोण से विचार किया जा सकता है। यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्येक सम्प्रदाय और पंथ की अपनी विचारप्रणाली और प्रतिबद्धताएँ होती हैं, उसके निर्वहन की बात अलग है। मुझे लगता है कि दार्शनिक सम्प्रदायों की जहाँ तक बात है, वह विचार प्रणाली के साम्य और गुरु भक्ति के कारण बने। विभिन्न धर्मों या दर्शनों के प्रवर्तकों ने अपनी विचारधारा व युगीन विचारप्रणाली से अन्तर को व्यक्त किया व अपनी विचारप्रणाली को ही सही मानकर प्रचार किया, आज के शब्दों में वाद–विवाद नहीं तो शास्त्रार्थ किया। इससे प्रभावित लोग आते गए और एक अलग मतवाद प्रचलित होता गया।
सिद्ध, नाथ, जैन आदि पंथ भी कुछ–कुछ इसी तरह बने हैं। गुरु भक्ति इस पंथ को बनाने में बहुत सहायक हुई लेकिन विनाश के लिए भी उतनी ही जिम्मेदार हुई। कबीर पंथ विशेष रूप से चर्चित रहा। बड़ा अटपटा सा लगता है कि कबीर जैसे व्यक्तित्व को भी पंथ में बांध दिया गया। यह सवाल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'घर जोड़ने की माया' में उठाया है।

मजरुह सुल्तानपुरी का शेर याद आ रहा है–

'मैं अकेला ही चला था जानिबे मंजिल
मगर लोग साथ आते गए – कारवाँ बनता गया।'

मगर लोगों को कबीर के साथ आने में किसी को कोई आपत्ति नहीं मगर कारवां वो भी वैसा जिसके कबीर प्रचण्ड विरोधी थे। खैर पंथ बनने या बनाने की अपनी सार्थकता भी होती है। लेकिन एक कबीर के अनेक पंथ न अपना कल्याण कर पाये और न ही कबीर का। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने कुछ कबीरपंथी शाखाओं को गिनाया है। जैसे–'श्रुत गोपाल दास' 'भग्गूदास' 'नारायण दास' 'चूड़ा मणिदास', 'जग्गूदास', 'जीवनदास', 'कमाल', 'टकसाली', 'ज्ञानी', 'साहेबदास' 'नित्यानंद', 'कगलानन्द', 'हंस कबीर', 'दान कबीर', 'मंगल कबीर' आदि आदि। एक चीज यहाँ ध्यान देने लायक है कि उपरोक्त जितनी भी शाखाएँ गिनाई गई

उनमें से अधिकांश व्यक्ति विशेष के नाम पर बनी हैं। यहाँ मुझे लगता है कि मठाधीशी की दौड़ वा अपने नाम कमाने के चक्कर में इतनी विविध शाखाएँ बनीं। एक और ध्यान देने लायक तथ्य है, कि एक कबीर के अनुयायी होने का दावा करने वालों के विचारों में भी भेद था, और कुछ ने तो दूसरे सम्प्रदाय भी स्थापित कर लिए थे जैसे जीवन दास ने 'सतनामी सम्प्रदाय।'[1] विचार भेद की बात जहाँ तक है तो हरिऔध लिखते हैं 'साहेबदास– वे कटक में रहते थे। इनके चेले और कबीर पंथियों की अपेक्षा कुछ निराली शिक्षा और विलक्षणता रखते हैं। इसलिए मूलपंथी कहलाते हैं।'[2]

इसी तरह दादू पंथ, रैदास पंथ, और नानक पंथ (इनकी तो पूरी परम्परा बाकायदा चली) आदि बने और मिटे, कहीं कहीं वैसे अब भी हैं। इसलिए मिटना शब्द लोप होने के अर्थ में नहीं। कहने को वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा 'महानुभाव पंथ' के नाम से चली, लेकिन वस्तुतः है यह निर्गुण मत की और कबीर के निकट की। इसका स्थान भेद से अलग–अलग नाम भी हैं जैसे महाराष्ट्र में 'मानभाव' गुजरात में 'अच्युत पंथ' और पंजाब में 'जयकृष्णी पंथ'। महानुभाव पंथ वाले निर्गुणोपासना पद्धति में विश्वास करते हैं इसी से इसे 'महानुभाव (महान अनुभवः यस्य सः) पंथ कहते हैं।'[3] इस पंथ के उपास्य श्री कृष्ण हैं लेकिन गुरु दत्तात्रेय की उपासना भी प्रचलित है। इनके यहाँ जाति– पांति, मूर्तिपूजा आदि के लिए स्थान नहीं। कबीर की निर्गुण वैष्णवता (डॉ. भगीरथ का शब्द बन्ध) से इसका सीधा संबंध स्थापित किया गया है लेकिन विडम्बना यह है कि इसमें अनेक वर्ग हैं– संयासी– गृहस्थ, सगुण– निर्गुण, और यही नहीं इनके यहाँ गद्दी के लिए अच्छी मारा मारी भी होती है।

एक पंथ हम लोगों के अनुभव में आता है, जिनके अनुयायियों को हम गांवों में घूमते देखते हैं, अघोर पंथ या औघड़ पंथ है। डॉ. त्रिगुणायत का मानना है कि यह शैव साधुओं का एक संप्रदाय है और प्राचीन शैव– कापालिक मत का ही नवीन रूपान्तर है। इस पंथ में भी जाति पाँति को स्थान नहीं। अघोर का शाब्दिक अर्थ (अ$घोर) है – जो इस घोर संसार में नहीं है अर्थात संसार मुक्त व्यक्ति ही अघोर है। इसी से इसमें नारी त्याज्य है और इनके क्रियाकलाप बड़े विचित्र होते हैं। जो घृणित वस्तु सांसारिकों के लिए त्याज्य है, वही इसमें ग्राह्य है। इनका सिद्धांत पक्ष निर्गुण अद्वैतवाद से मिलता– जुलता है। साधनापक्ष में हठयोग तथा ध्यानयोग की प्रधानता है। इनकी प्रक्रियाएँ तन्त्र साहित्य पर आधारित हैं। इनका वर्णन बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी हुआ है। इससे इनके मत का अन्दाजा लगाया जा सकता है इसी में एक संवाद आता है (शब्द हेर फेर हो सकते हैं) 'संसार का नाम माया है, वेद से मत डरना, मंत्र से मत डरना, किसी से मत डरना, गुरु से भी नहीं।' यह संवाद और यह जिस मत पर आधारित है, वह बड़ा ही क्रांतिकारी है लेकिन आज जो औघड़ मिलते हैं वे यही सब करते हैं और इन्हीं सब चीजों से डरते हैं। गुरु की तो महिमा अपरंपार है, इसके लिए भले ही (गलत बात के लिए) इनको मरना भी कबूल होता है, यह मैंने स्वयं एक औघड़ से बात करके परखी है। कभी–कभी ये अपने गुरु का नाम 'गोरखनाथ' भी बताया करते हैं और टोना–टोटका, झाड–फूँक के अवसर पर (दोहाय गुरु गोरखनाथ कामरु कमछया नैना योगिन) कहा करते हैं। लेकिन जिस विचारप्रणाली को लेकर ये चले थे, वह अब इनका साध्य नहीं बल्कि ये परंपरागत सामाजिक ढांचे में विकृत रूप में स्वीकार कर लिए गए और एक अलग जाति बनकर, मंत्र–तंत्र के सहारे, और कोई कोई तो जानवरों का व्यापार करके अपना पेट पालते चले आ रहे हैं। विरोध, विकृति, समाहार के शिकार ये भी हुए हैं इनका स्वर्णिम भूत था लेकिन दुःखद वर्तमान और शायद भविष्य भी होगा।

और भी कई पंथ हैं जिनकी विवेचना न करके मैं सगुण भक्ति शाखा के (कृष्ण शाखा) एक पंथ का और थोड़े में जिक्र करूंगा – वल्लभ सम्प्रदाय। इसके संथापक वल्लभाचार्य थे जो कि कृष्ण के उपासक थे पर बाद में स्वयं उपास्य बन गए। यह संप्रदाय निर्गुणिया पंथों जैसा क्रांतिकारी तो नहीं पर कई प्रगतिशील चीजें इस पंथ में भी लक्ष्य करने लायक थीं जो बाद में विकृत हो गयीं। यह तो सर्वविदित है कि इस संप्रदाय में ऊँच–नीच का भेद नहीं था और पुरुष स्त्री का भी भेद नहीं था, इसका प्रमाण वल्लभाचार्य के शूद्र शिष्य का होना था। ये चीजें अपने समय के हिसाब से क्रांतिकारी थीं। सामंती प्रथा की जकड़बन्दी में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर स्थान देना महत्त्वपूर्ण था लेकिन इसका भी अंत कुछ वैसे ही हुआ जैसे अन्य पंथों का। इस धारा को पुष्टिमार्गीय कहा गया और इन लोगों ने अपने को श्रेष्ठ घोषित कर दूसरे के यहाँ अन्न–जल लेना वर्जित कर दिया। यह जातिव्यवस्था का ही नया संस्करण था। बजरंग बिहारी तिवारी के शब्दों में– 'पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय एक तरफ तो भक्ति के मुक्तिकारी स्वरूप की सूचना देता है परम्परागत सत्तातंत्र वर्णाश्रम को अतिक्रमित करके भक्ति के नए–नए नैतिक विश्वदृष्टि का निर्माण करता है, एक नया सामाजिक समुदाय बनाता है लेकिन दूसरी तरफ जो नया समुदाय बनता है, वह इस मुक्ति को नए तरह की दासता से पुनर्परिभाषित कर देता है। यह खुद अपने आप में एक ऐसा तंत्र बन जाता है जिसकी संस्थानक व्यवस्था, नियंत्रणकारी शक्ति और आचरणगत बाध्यता किसी मायने में पहले से कम नहीं है।'[4]

ऐसा क्षरण होता क्यों है? अपनी प्रतिबद्धताएँ लोग भूल क्यों जाते हैं ? इन प्रश्नों पर मैं अन्त में विचार करूंगा। पहले पंथ निर्मित क्यों होते हैं? खासकर कबीर पंथ के संदर्भ में, विचार करना चाहूँगा। इसका जिक्र संक्षेप में मैंने पहले भी कर दिया है पर –खैर, प्रत्येक पंथ के निर्माण में एक चीज सामान्य होती है – किसी विचार प्रणाली की खिलाफत। दूसरी चीज संगठित होने की अनिवार्यता। अनिवार्यता इसलिए की खिलाफत अकेले नहीं की जा सकती। 'एकला चलो रे' इसके रचयिता के लिए भले ही काम्य हो, वैसे इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। और कहीं यदि 'एकला चलो' की विचारधारा रही भी होगी तो इतिहास और सामाजिक ढांचे में इतना दब गयी होगी कि कुछ अता–पता नहीं। 'एकला चलो' में सिर्फ चला जा सकता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। कहेंगे भी तो किससे? और संगठित होने के बाद की अनिवार्य प्रक्रिया, ऑक्शन के रूप में पंथ खड़ा करने की है। एक ओर उद्धृत करना चाहता हूँ–

'लीके लीकि गाड़ी चलै, लीकहिं चले कपूत
लीक छांड़ि तीनो चलैं, शायर सिंह सपूत।'

हर प्रतिभाशाली और क्रांतिकारी आदमी थोड़ा हटकर सोचता है, चलता है। लेकिन वह जिधर से जाता है, एक लीक तो बनती ही है और उसकी हटकर सोच में एक विचार प्रणाली होती है। इस विचारप्रणाली के निकट पड़ने वाले लोग इसके प्रति प्रतिबद्ध भी होंगे, जब प्रतिबद्ध होंगे तो संगठित होने का प्रयास भी करेंगे, और जब संगठित हो जाएँगे तो पंथ बन ही जाएगा। यह अलग बात है कि आपने किस विचार प्रणाली के चलते पंथ निर्मित किया है? और उसके क्रिया–कर्म क्या हैं? आप पुरानी शोषण व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पंथ बनाते हैं या न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के लिए? ये सब पंथ का स्वरूप निर्मित करते हैं। पंथ निर्माण का एक कारण और लगता है, गुरु के प्रति आदर भाव और आदर भाव अन्ध श्रद्धा तक। श्रद्धा का अतिरेक ही था कि एक ही विचार प्रणाली के अनेक पंथ बने। सब अपने–अपने गुरु को अपने तरीके से पूजना चाहते हैं। 'दादू पंथ' का निर्माण उनकी शिष्य पंरपरा के शिष्य कृष्णदास पयहारी ने जयपुर के 'गलता' नामक स्थान पर किया। पंथ की जरूरत हर जगह है। हर वर्ग अपना समुदाय बनाना चाहता है। पंथ–निर्माण मनुष्य की

मानसिक, बौद्धिक और मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचाने जाने की स्वाभाविक इच्छा का परिणाम है। वैसे अपना दबाव, और प्रतिक्रिया में भी पंथ बनते हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पंथ जब बन जाता है तो प्रदत्त परंपरा की पुनर्व्याख्या भी विचार प्रणाली के अनुसार होती है। रावण के संबंध में जो हमारी दृष्टि व व्याख्या है वह सिंहली समुदाय की नहीं है। मनु के संबंध में भी अपनी अपनी व्याख्याएँ हैं।

ये सब तथ्य पंथ निर्माण के लिए उत्तरदायी होते हैं। लेकिन पंथ में विकृति क्यों आती है? यह भी एक जटिल प्रश्न है? सारी प्रतिबद्धताएँ चरमरा क्यों जाती है? यह एक अहम सवाल है। इसका आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत बढ़िया कारण बताया है – 'घर जोड़ने की माया'। इस क्षरण के लिए इस पंथ के विरोधी जितना जिम्मेदार होते हैं इससे अधिक उसके समर्थक। पहले मैं विरोधियों की भूमिका का जिक्र करूंगा, निर्गुण शाखा के संदर्भ में। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने एक सूत्र दिया है – 'विरोध विकृति समाहार'। यह एक पूरी प्रक्रिया है। क्रिया से तेज प्रतिक्रिया होती है। विरोध का कार्य तो इसी समय हो जाता है, विकृति और समाहार उस समय संभव न हुई तो यह बाद में भी हो सकती है। कबीर शताब्दियों तक इसी के शिकार रहे। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है।बाबू श्याम सुन्दर दास कबीर की तमाम बड़ाई करने के बावजूद मानते हैं – 'कबीर के रंगों में ब्राह्मण नहीं तो हिन्दू रक्त तो अवश्य बह रहा था।' बकौल प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, पीपा के माध्यम से जो जानकारी मिलती है, उसके अनुसार कबीर मुसलमान परिवार में उत्पन्न हुए थे। इसका सूचक एक छन्द है जिसके अनुसार ईश्वर की महिमा अपरंपार है, ईद–बकरीद में गाय वध करने वाले परिवार में कबीर जैसा वैष्णव भक्त जन्मा।

आइने अकबरी की रचना तिथि (सन् 1598) में ही महाराष्ट्र सन्त तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम ने अपने 'गाथा अभंग' में कबीर को निर्देश दिया है – 'गोरा कुम्हार', रविदास चमार, कबीर मुसलमान, सेना नाई, कन्होपात्रा वेश्या, जनाबाई कुमारी अपनी भक्ति के कारण ईश्वर में लीन हो गए हैं।'

'गुरु ग्रंथ साहब' में संकलित एक पद देखिए –
'जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि
मानी अहि सेख सहीद पीरा
जाकै बाप वैसी करी पूत अैसी सरी
तिछु रे लेखक परसिध कबीर।' (पृ. 698)

ये तीनों ग्रंथ प्रमाण हैं कि कबीर मुस्लिम परिवार में जन्में थे। और जिस 'लीजेंड' के आधार पर वह कथा चली है, संदिग्ध है। बावजूद इसके कबीर को हिन्दू मानने का आग्रह क्यों? यही विकृति की प्रक्रिया है। वह इसलिए कि, यदि अपने घर का आदमी ऊट पटांग हरकतें करता है तो उसमें वह स्प्रिट कहाँ रहेगी जो दूसरे वर्ग में रहकर संभव है? हिन्दू, हिन्दू की आलोचना करता है तो दूसरों को क्या मतलब ? यह सोची समझी, जाने, अनजाने (संस्कार के कारण) रणनीति होती है। समाहार की प्रक्रिया तुलसी द्वारा ही घटित (अगुनहि – सगुनहिं) हो गई थी पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े सूक्ष्म तरीके से इसे किया। जैसे उनके ही द्वारा लिखे गए कुछ वाक्य – 'साधारण जनता पर ये आतंक जमाना चाहते थे', 'कबीर के मुंह से अक्सर चुटीली वाणियाँ निकलती थी' और अंत में 'प्रतिभा उनमें प्रखर थी, इसमें संदेह नहीं।' ये वाक्य समाहार की ही प्रवृत्ति के घोतक हैं। इनकी चेतना को कुन्द करने में वर्णव्यवस्था अपनी मूल प्रकृति में स्वयं एक बड़ा कारण है। इसमें इतना लोच है कि लोग इसमें समा जाते हैं। नीची से नीची जाति कही जाने वाली के भी नीचे कोई न कोई नीची जाति होती है। अब वर्णाश्रम में नीच जाति इसलिए खुश हैं कि उनसे भी तो कोई नीचा है। एक उदाहरण मैं अपने सामने का देना चाहता हूँ। एक हरिजन ने अपनी पत्नी की पिटाई कर दी, पत्नी अपना सामान समेटकर कहीं जाने को सोचने लगी। उसके पति ने व्यंग्य भरा प्रश्न किया क्यों कहाँ जाना चाहती हो? क्या किसी दूसरे पुरुष के साथ रहने का विचार है ? 'मैं चमार हूँ, मुझसे नीच कोई है नहीं, ऊँची जाति का कोई रखेगा नहीं।' उसकी पत्नी का जवाब बड़ा ही झकझोरने वाला था – 'तुमसे नीच तो बरेठा (धोबी) है जो तुम्हारे ... का लता भी साफ करता है।' ये कहना क्या प्रमाणित करता है? ध्यान रहे सतनाम पंथ ठीक इसी विचार का शिकार है। सतनाम पंथ घोषित रूप से रैदास के वंशज (दलित) हैं लेकिन इनके यहाँ भी धोबी और मेहतर का प्रवेश वर्जित है। 'मन चंगा तो कठोती में गंगा' कहने वाले संत के नाम पर बने पंथ में जब यह भेदभाव है, तो तथाकथित उच्च–जातियाँ जब यह व्यवस्था बनाए रखना चाहती हैं तो आश्चर्य कैसा ? और गुस्सा क्यों? इसके लिए वर्णव्यवस्था का लचीलापन ही जिम्मेदार है। हर जाति अपने को श्रेष्ठ मानने के चक्कर में दूसरे को नीच मानती है। उसका रोष इसके लिए नहीं है कि वह हमसे ऊँचा किस बात में है? इसको खुशी इस बात में है कि हमसे नीचा वह है। खैर ...। इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उद्धरण उल्लेखनीय हैं – 'वर्णव्यवस्था में विचार की पूर्ण स्वतंत्रता है लेकिन आचार के क्षेत्र में नहीं।'

यह तो विरोधियों की भूमिका रही। पंथ को विकृत करने में समर्थकों की भूमिका भी कम नहीं। इसकी विस्तृत चर्चा प्रो. मैनेजर पाण्डेय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की है। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के विचारों से भी इस पर प्रकाश पड़ता है पर उन्होंने इसे थोड़ा भिन्न तरीके से कहा है। पहले हरिऔध जी के तर्कों एवं विचारों को लें। यह ध्यान रहे कि किसी पंथ की विकृति के ऐसे ही कारण होते हैं 'कबीर पंथ' कोई इस मामले में अनोखा नहीं है। हरिऔध जी ने पहले कबीर के 'बीजक' की प्रामाणिकता को संदिग्ध बताया। इसके लिए उन्होंने भगवानदास (मग्गूदास) की कथा सुनाई।"[5] फिर उनका कहना है 'प्रायः कबीर पंथियों से सुना जाता है कि कबीर साहब के ग्रंथों में जो वेदशास्त्र अथवा अवतारों के विरुद्ध बातें पाई जाती हैं या असंगत भाव से खंडन और आक्षेप देखा जाता है, वास्तव में वह उनके किसी शिष्य की ही करतूत है। जो हो, परन्तु भागूदास की कथा इस विचार को दृढ़ करती है।[6] ऐसे कौन से कबीर पंथी हैं जो ऐसा कहते हैं? यदि कहते हैं तो क्यों? विचारणीय सवाल है। अब हरिऔध जी का विचार इस तरह दृढ़ होता है, हो भी क्यों न? कबीर बेचारे सीधे साधे इंसान, वो ऊँट पटांग बातें क्यों कहने जाएँगे? आदर्श व्यवस्था के खिलाफ कोई मूर्ख ही इस तरह कह सकता है। मतलब कबीर का सारा किया धरा, साफ!

हरिऔध जी के और भी तर्क हैं जैसे कबीर ने नए धर्म की नींव डालनी चाही, इसीलिए खुद को अवतार, पैगम्बर मनवाया और दूसरी तरफ खण्डन में जुटे। इनका ही एक जगह विचार है – 'मैं यह मानूंगा कि कबीर साहब जब चिन्ताशीलता से काम लेते हैं और ऊँचे उठते हैं, तब सत्य बात कह जाते हैं एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कहा है – 'वेद कतेब कहो मति झूठे झूठा जो न विचारै।' कबीर की ऐसी व्याख्या वास्तव में व्यथित करती है। सच को कहने और स्वीकार करने में पता नहीं क्यों, इतना लोग आगा – पीछा करते हैं।

कबीर पंथियों की करतूत भी कम नहीं। सच मायने में कबीर के साथ धोखा इन्हीं लोगों ने किया है। उनको महिमा मंडित करने के चक्कर में उसी भव सागर में फंसे हैं, जहाँ कबीर सचेत करते थे। ऐसा करुण पतन पता नहीं क्यों किया गया। आचार्य द्विवेदी ने विस्तार पूर्वक कबीर के संस्कृतिकरण पर प्रकाश डाला है। तंत्र, मंत्र, टोटका, अन्धविश्वास, संस्कृत (भाषा), सबका विरोध कबीर ने किया, परन्तु आज वे उसी में बंधे हैं। 'पाथर पूजे हरि मिले कहने वाले की ही पूजा करके हरि से साक्षात्कार किया जा

रहा है। 'छापा तिलक' के विरोधी कबीर के अनुयायी इसी के सहारे परलोक साधते हैं। 'संसकीरत है कूप जल' कहने वाले कबीर की वाणी संस्कृत में ही पवित्र बनाई जा रही है। बकौल प्रो. मैनेजर पाण्डेय, कबीर की वाणी को 'दशमात्रा', 'कबीर शतकम्' और 'ब्रह्मनिरुपण' जैसी पुस्तकों में, दर्शन से भिड़ाकर देखा जा रहा है। 'कबीर मंसूर' पुस्तक (लेखक परमानन्द दास कबीर पंथी साधु) की करतूतों को उद्धृत करके उनकी टिप्पणी है – 'कबीर मंसूर' के कबीर की केवल पूजा हो सकती है, वे सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद के विरुद्ध किसी संघर्ष के प्रेरणास्रोत नहीं बन सकते।'[7] इतना ही नहीं विभिन्न नित्य क्रियाओं के लिए मंत्र की व्यवस्था है। और कबीर की स्तुति में संस्कृत में वह भी ऊट पटांग भाषा में (व्याकरणिक अशुद्धियाँ हैं) प्रार्थना बनाई गई है–

'नमो आद ब्रह्मं अरुपं अनामं।
भई आप इच्दा रचे सर्व धामं।।
न जानामि कोई करै कौन ख्यालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं।।
$ $ $ $ $
लहै ज्ञान विज्ञान कैवल्य पूरं।
महामोह माया रहे ताहि दूरं।।
लखे गाहि डर में महा चित्तकालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं।।'[8]

आखिर कबीर पंथियों ने यह सब क्यों किया? आचार्य द्विवेदी इसका उत्तर बड़े संगत ढंग से देते हैं। इनका कहना है कि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता है, तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है। प्रत्येक बड़े 'यथार्थ' की संप्रदाय के अनुकूल संगति लगाने की चिन्ता ही बड़ी हो जाती है। और आचार्य द्विवेदी का सबसे बड़ा तर्क है कि ये सब करने का कारण 'घर जोड़ने की माया है।' 'घर जोड़ने की अभिलाषा ही इस प्रवृत्ति का मूल कारण है। लोग सत्य को पाने के लिए देर तक नहीं टिके रह सकते। इन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। ये प्रलोभन 'सत्य' कही जाने वाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुए हैं।'[9] आचार्य द्विवेदी की बात एकदम सही है। सारे व्यक्ति कबीर नहीं (लिए लुकाठी हाथ) हो सकते। घर की माया होती ही ऐसी है। सब उसको न चाहते हुए भी जोड़ते हैं, रचते हैं। जो इस तर्क को नहीं मानता। उनके लिए आचार्य द्विवेदी की टिप्पणी हैं – 'पंथ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए। जो लोग इस आकर्षण को न काट सकने वालों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर–ऊपर से देखते हैं।'[10]

इसके अलावा भी मुझे एक कारण समझ में आता है। यह मानी बात है कि कबीर पंथी – जिस व्यवस्था के खिलाफ खड़े हुए वह काफी सबल थी, उसकी अपनी एक मजबूत परम्परा व सांस्कृतिक विरासत रही है। उसकी एक विशेष भाषा रही है, अपना मिथकीय और मनलुभावन अतीत रहा है। ऐसे में कबीरपंथी अलग थलग अपने को महसूस किये हों। अपनी भाषा को गवारूं समझें हों। अपने को ईश्वर विहीन पाकर, ईश्वर गढ़ने की ललक जागी हो। कुल मिलाकर 'इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स' से उबरने की चिन्ता सताई हो। यह सब संभव हो सकते हैं। परिणाम स्वरूप उन्होंने उस व्यवस्था के बरक्स अपने को खड़ा करने के लिए सुसंस्कृत (?) होने की जरूरत समझी हो। इसीलिए मंत्रों की व्यवस्था की गई, कबीर को ईश्वर बनाया गया। संस्कृत में प्रार्थनाएं रची गई। प्रतिमा पूजन को वैध ठहराया गया, दर्शन में खुद को प्रमाणित किया गया। कुल मिलाकर अपना संस्कृतिकरण करके अपने को 'सुपीरियर' दिखाने की कोशिश की गई और अपनी प्रतिबद्धताओं को भुला दिया गया। इस तरह जिस जकड़बन्दी से उबरने की चिन्ता थी उसी में खुद को फंसाकर गौरवान्वित महसूस किया गया। सारी चेतना, सारी स्पिरिट, सारी क्रांतिकारिता धरी की धरी रह गयी।

मध्ययुग के क्रांतिकारी आंदोलन एक भी सफल नहीं हुए। पंथ बड़े क्रांतिकारी भाव से चले पर उसी तरह विकृत भी हो गए। हर पंथ की अब अपनी अलग जाति है, अलग सम्प्रदाय है, अलग नियम कानून हैं। और सब उसी व्यवस्था का पोषण करते हुए नज़र आते हैं जिसके खिलाफ वे उठे थे। इतिहास गवाही देता है कि पंथ जिस ऐतिहासिक सांस्कृतिक जरूरत से उठे, पूरा नहीं कर पाये। और पूरा कर भी नहीं सकते थे। सारे संबंध आर्थिक होते हैं। बिना राजनीतिक, आर्थिक उत्थान के धर्म के बवेला से कुछ नहीं हो सकता। कितना भी क्रांतिकारी धर्म, सम्प्रदाय, पंथ क्यों न हो, उसकी भी अपनी कुछ रूढ़ियाँ होती हैं। यहाँ आकर मानना पड़ता है कि मार्क्स ने सही कहा था – 'धर्म वह अफीम है जिसे पिलाकर जनता को मदहोश किया जाता है।' कबीर पंथियों ने भी अपना धर्म ही बना लिया। फिर धर्म से धर्म का विरोध कितना कारगर हो सकता है? ये सब किस तरह रोका जा सकता है? पंथ अपनी प्रतिबद्धताओं के प्रति सचेत कैसे रह सकते हैं? पंथ के प्रतिष्ठापक अपने पूर्ववर्ती पंथों की दुर्गति से सीख क्यों नहीं लेते? ऐसे में पंथ का मूल संदेश किस तरह फैल सकता है? इन सारे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने में मैं अपने को असमर्थ पा रहा हूँ।

सहायक ग्रंथ

1. कबीर पर विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित पुस्तक में हरिऔध का लेख, पृ. 32
2. वही,
3. कबीर काव्य के स्रोत– डॉ. भगीरथ प्रसाद यादव, पृ. 78
4. चौरासी वैष्णवन की वार्तारू एक सांस्कृतिक अध्ययन (एम. फिल, लघु शोध प्रबंध) श्री बजरंग बिहारी तिवारी, चौथे अध्याय में ;जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय नई दिल्ली
5. विजयेन्द्र स्नातक की पुस्तक के एक लेख में, पृ. 14
6. वही,
7. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य– प्रो. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 51
8. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग दृ 9, पृ. 102–103, 'घर जोड़ने की माया से उद्धृत'
9. वही,
10. वही,
11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'घर जोड़ने की माया' निबंध (द्विवेदी ग्रंथावली भाग 9, में संकलित)
12. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'– 'कबीरपंथ' लेख (विजयेन्द्र स्नातक की 'कबीर' विषयक पुस्तक में संकलित)
13. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य – प्रो. मैनेजर पाण्डेय
14. 'चौरासी वैष्णवन की वार्तारू एक सांस्कृतिक अध्ययन' (एम. फिल. शोध प्रबंध बजरंग बिहारी तिवारी) जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय नई दिल्ली
15. 'कबीर काव्य के स्रोत' – डॉ. भगीरथ प्रसाद यादव